

अपना-अपना भारत

जैनोन्ड



अपना-अपना भाग्य

जैनेन्द्र



आवरण एवं रेखांकन : रामबाबू



अनुराग ट्रस्ट

छोटे गांगड़-गांगड़



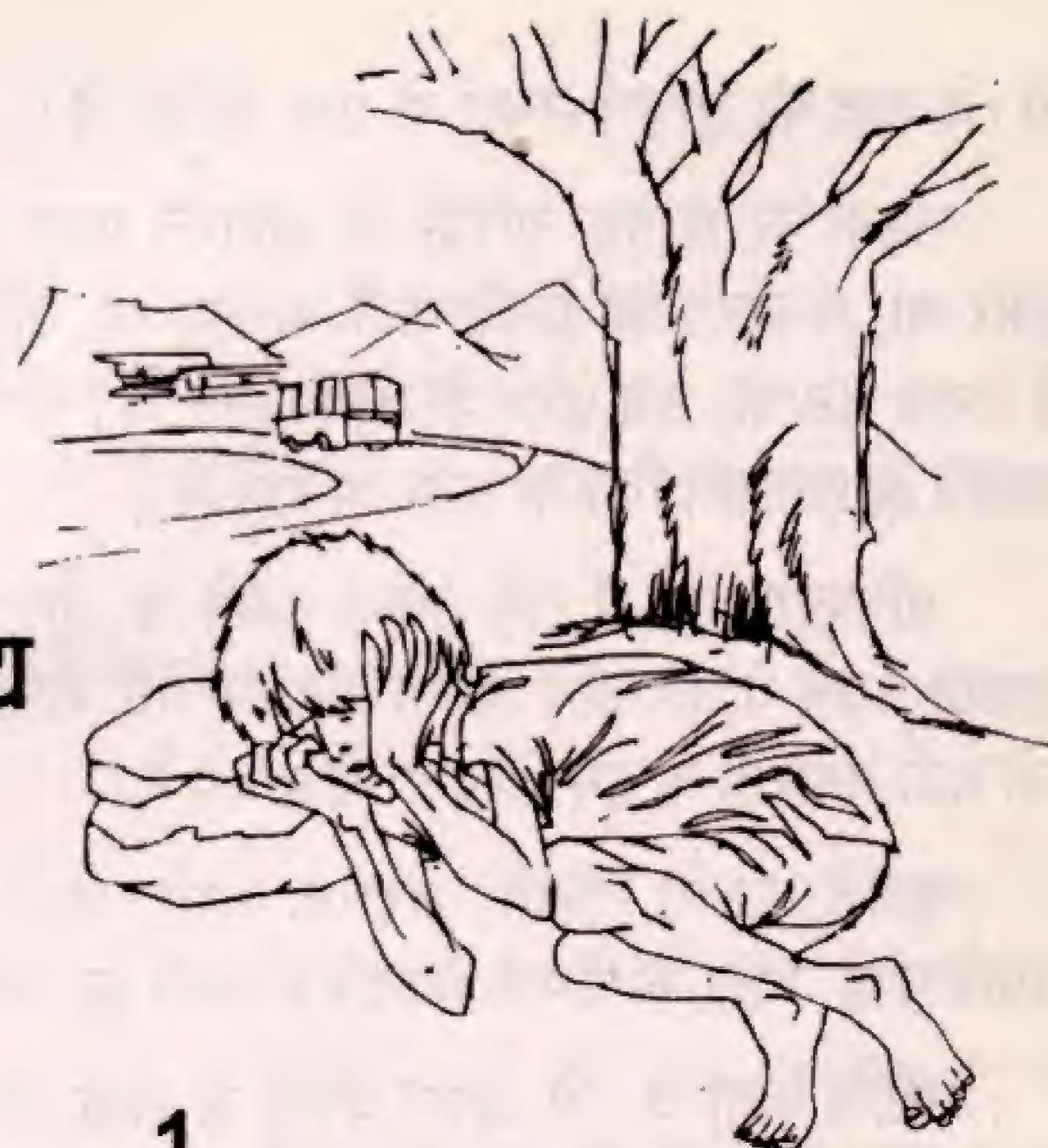
काव्याधिकार सुनिधित

मूल्य : 15 करोड़
पहला भावतीय संस्करण 2005

प्रकाशक
अनुशास दूसर
डी - ६४, दिव्यालयगढ़
लखनऊ - २२६०२०

लेजब टाइप सेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाव, बाहुल फाउण्डेशन
मुद्रक : वाणी आर्टिकल, अलीगंज, लखनऊ

अपना-अपना भाग्य



1

बहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकने पर हम सड़क के किनारे की एक बेंच पर बैठ गये।

नैनीताल की सन्ध्या धीरे-धीरे उतर रही थी। रुई के रेशे-से, भाप-से बादल हमारे सिरों को छू-छूकर बेरोक घूम रहे थे। हल्के प्रकाश और अँधियारी से रंग कर कभी वे नीले दीखते, कभी सफेद और फिर देर में अरुण पड़ जाते। वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलोवाला मैदान फैला था। सामने अंगरेजों का एक प्रमोद-गृह था, जहाँ सुहावना, रसीला बाजा बज रहा था और पाश्वर में था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

ताल में किशितयाँ अपने सफेद पाल उड़ाती हुई एक-दो अंग्रेज यात्रियों को लेकर, इधर-से-उधर और उधर-से-इधर खेल रही थीं। कहीं कुछ अंग्रेज एक-एक देवी सामने प्रतिस्थापित कर, अपनी सुई-सी शक्ल की डोंगियों को, मानो शर्त बाँध कर सरपट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारे पर कुछ साहब अपनी बंसी डाले, सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ मछली-चिन्तन कर रहे थे।

पीछे पोलो-लॉन में बच्चे किलकारियाँ मारते हुए हॉकी खेल रहे थे। शोर, मार-पीट, गाली-गलौज भी जैसे खेल का ही अंश था। इस तमाम खेल को उतने क्षणों का उद्देश्य बना, वे बालक अपना सारा मन, सारी देह, समग्र बल और समूची विद्या लगाकर मानो खत्म कर देना चाहते थे। उन्हें आगे की चिन्ता न थी, बीते का ख्याल न था। वे शुद्ध तत्काल के प्राणी

थे। वे शब्द की सम्पूर्ण सचाई के साथ जीवित थे।

सड़क पर से नर-नारियों का अविरल प्रवाह आ रहा था और जा रहा था। उसका न ओर था, न छोर। यह प्रवाह कहाँ जा रहा था, और कहाँ से आ रहा था, कौन बता सकता है? सब उम्र के, सब तरह के लोग उसमें थे। मानो मनुष्यता के नमूनों का बाजार स़जकर सामने से इठलाता निकला चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्व में तने अंग्रेज उसमें थे और चिथड़ों से सजे घोड़ों की बाग थामे, वे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को कुचलकर शून्य बना लिया है और जो बड़ी तत्परता के दुम हिलाना सीख गये हैं।

भागते, खेलते, हँसते, शरारत करते, लाल-लाल अंग्रेज-बच्चे थे और पीली-पीली आँखें फाड़े, पिता की उँगली पकड़कर चलते हुए अपने हिन्दुस्तानी नौनिहाल भी थे।

अंग्रेज पिता थे, जो अपने बच्चों के साथ भाग रहे थे, हँस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुजुर्गों को अपने चारों तरफ लपेटे धन-सम्पन्नता के लक्षणों का प्रदर्शन करते हुए चल रहे थे।

अंग्रेज-रमणियाँ थीं, जो धीरे-धीरे नहीं चलती थीं-तेज चलती थीं। उन्हें न चलने में थकावट आती थी, न हँसने में मौत आती थी। कसरत के नाम पर घोड़े पर भी बैठ सकती थीं, और घोड़े के साथ-ही-साथ, जरा जी होते ही, किसी-किसी हिन्दुस्तानी पर कोड़े भी फटकार सकती थीं। वह दो-दो, तीन-तीन, चार-चार की टोलियों में निःशंक, निरापद इस प्रवाह में मानो अपने स्थान को जानती हुई सड़क पर चली जा रहीं थीं।

उधर हमारी भारत की कुल-लक्ष्मी; सड़क के बिल्कुल किनारे दामन बचाती और सम्हालती हुई, साड़ी को कई तहों में सिमट-सिमट कर, लोक-लाज, स्त्रीत्व और भारतीय गरिमा के आदर्श को अपने परिवेष्टनों में छिपा कर सहमी-सहमी धरती में आँख गाड़े, कदम-कदम बढ़ रही थी।

इसके साथ ही भारतीयता का एक और नमूना था। अपने कालेपन को खुरच-खुरच कर बहा देने का इच्छा करनेवाले अंग्रेजी-दां पुरुषोत्तम भी थे, जो नेटिवों को देख कर मुँह फेर लेते थे और अंग्रेज को देख कर आँखें बिछा देते थे और दुम हिलाने लगते थे। वैसे वह अकड़कर चलते थे-मानो भारत-भूमि को इसी अकड़ के साथ कुचल-कुचलकर चलने का उन्हें अधिकार मिला है।

2

घण्टे-के-घण्टे सरक गये। अन्धकार गाढ़ा हो गया। बादल सफेद होकर जम गये। मनुष्यों का वह ताँता एक-एक कर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़क पर छतरी लगा-कर निकल रहा था। हम वहाँ के वहाँ बैठे थे। सर्दी-सी मालूम हुई। हमारे ओवरकोट भीग गये थे।

पीछे फिरकर देखा। वह लाल बर्फ की चादर की तरह बिल्कुल स्तब्ध और सुन्न पड़ा था।



सब सन्नाटा था। तल्लीताल की बिजली की रोशनियाँ दीप-मालिका-सी जगमगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले हुए प्रकृति के जल-दर्पण पर प्रतिबिम्बित हो रही थी और दर्पण का काँपता हुआ, लहरें लेता हुआ, वह जल प्रतिबिम्बों को सौगुना, हजार गुना करके, उनके प्रकाश को मानों एकत्र और पूँजीभूत करके व्याप्त कर रहा था। पहाड़ों के सिर पर की रोशनियाँ तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्दे ने आकर इन सब को ढँक दिया। रोशनियाँ मानो मर गई। जगमगाहट लुप्त हो गई। वह काले-काले भूत से पहाड़ भी इस सफेद पर्दे के पीछे छिप गये। पास की वस्तु भी न दीखने लगी। मानो यह घनीभूत प्रलय थी। सब कुछ इस घनी गहरी सफेदी में दब गया। एक शुभ्र महासागर ने फैल कर संसृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया। ऊपर नीचे, चारों तरफ, वह निर्भेद्य, सफेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हम ने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था।

मार्ग अब बिल्कुल निर्जन-चुप था। वह प्रवाह न जाने किन घोंसलों में जा छिपा था।

उस बृहदाकार शुभ्र शून्य में कहीं से, ग्यारह बार टन-टन हो उठा । जैसे कहीं दूर कब्र में से आवाज आ रही हो ।

हम अपने-अपने होटलों के लिए चल दिये ।

3

रास्ते में दो मित्रों का होटल मिला । दोनों वकील-मित्र छुट्टी लेकर चले गये । हम दोनों आगे बढ़े । हमारा होटल आगे था ।

ताल के किनारे-किनारे हम चले जा रहे थे । हमारे ओवरकोट तर हो गये थे । बारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहाँ तो ऊपर-नीचे हवा के कण-कण में बारिश थी । सर्दी इतनी थी कि सोचा, कोट पर एक कम्बल और होता तो अच्छा होता ।

रास्ते में ताल के बिल्कुल किनारे एक बेंच पड़ी थी । मैं जी में बेचैन हो रहा था । झटपट होटल पहुँचकर इन भीगे कपड़ों से छुट्टी पा, गरम बिस्तर में छिपकर सो रहना चाहता था; पर साथ के मित्र की सनक कब उठेगी, कब थमेगी—इसका पता न था । और वह कैसी क्या



होगी—इसका भी कुछ अन्दाज न था। उन्होंने कहा—आओ, जरा यहाँ बैठें।

हम उस चूते कुहरे में रात के ठीक एक बजे तालाब के किनारे उस भीगी बर्फ-सी ठण्डी हो रही लोहे की बोंच पर बैठ गये।

५-१०-१५ मिनट हो गये। मित्र के उठने का इरादा न मालूम हुआ। मैंने खिसियाकर कहा—

“चलिए भी”

“अरे जरा बैठो भी”

हाथ पकड़ कर जरा बैठने के लिए जब इस जोर से बैठा लिया गया तो और चारा न रहा—लाचार बैठे रहना पड़ा। सनक से छुटकारा आसान न था, और यह जरा बैठना जरा न था, बहुत था।

चुपचाप बैठे तंग हो रहा था, कुछ रहा था कि मित्र अचानक बोले—

“देखो....वह क्या है?”

मैंने देखा—कुहरे की सफेदी में कुछ ही हाथ दूर से एक काली-सी मूरत हमारी तरफ बढ़ी आ रही थी। मैंने कहा—“होगा कोई।”

तीन गज की दूरी से देख पड़ा, एक लड़का सिर के बड़े बड़े बालों को खुजलाता हुआ चला आ रहा है। नंगे पैर हैं, नंगे सिर। एक मैली-सी कमीज लटकाये हैं। पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे हैं, और वह न जाने कहाँ जा रहा है—कहाँ जाना चाहता है? उसके कदमों में जैसे कोई न अगला है, न पिछला है; न दायाँ है न बायाँ है।

पास की चुंगी की लालटेन के छोटे से प्रकाश-वृत्त में देखा—कोई दस बरस का होगा। गोरे रंग का है, पर मैल से काला पड़ गया है। आँखें अच्छी बड़ी, पर खुखी हैं। माथा जैसे अभी से झुरियाँ खा गया है।

वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था। न नीचे की धरती, न ऊपर चारों तरफ फैला हुआ कुहरा, न सामने का तालाब और न बाकी दुनिया। वह बस अपने विकट वर्तमान को देख रहा था।

मित्र ने आवाज दी—“ए!”

उसने जैसे जाग कर देखा और पास आ गया।

“तू कहाँ जा रहा है रे?”

उसने अपनी सूनी आँखें फाड़ दीं।

“दुनिया सो गई, तू ही क्यों धूम रहा है?”

बालक मौन मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खड़ा रहा।

“कहाँ सोयेगा?”

“यहीं कहीं।”

“कल कहाँ सोया था?”

“दुकान पर।”

“आज वहाँ क्यों नहीं?”

“नौकरी से हटा दिया।”

“क्या नौकरी थी?”

“सब काम। एक रुपया और जूठा खाना!”

“फिर नौकरी करेगा?”

“हाँ।”

“बाहर चलेगा?”

“हाँ।”

“आज क्या खाना खाया?”

“कुछ नहीं।”

“अब खाना मिलेगा?”

“नहीं मिलेगा!”

“यों ही सो जायेगा?”

“हाँ।”

“कहाँ?”

“यहीं, कहीं।”

“इन्हीं कपड़ों में?”

बालक फिर आँखों से बोल कर मूक खड़ा रहा। आँखें मानो बोलती थीं—“यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न!”

“माँ-बाप हैं?”

“हैं।”

“कहाँ?”

“१५ कोस दूर गाँव में।”

“तू भाग आया?”

“हाँ!”

“क्यों?”

“मेरे कई छोटे भाई-बहन हैं—सो भाग आया, वहाँ काम नहीं, रोटी नहीं। बाप भूखा रहता था, और मारता था। माँ भूखी रहती थी, और रोती थी। सो भाग आया। एक साथी और था। उसी गाँव का। मुझसे बड़ा था। दोनों साथ यहाँ आये। वह अब नहीं है।”

“कहाँ गया?”

“मर गया।”

“मर गया?”

“हाँ, साहब ने मारा, मर गया।”

“अच्छा हमारे साथ चल।”

वह साथ चल दिया। लौटकर हम वकील-दोस्तों के होटल में पहुँचे।

“वकील साहब!”

वकील लोग, होटल के ऊपर के कमरे से उतरकर आये। कश्मीरी दोशाला लघेटे थे, मोजे-चढ़े पैरों में चप्पल थीं। स्वर में हल्की-सी झुँझलाहट थी, कुछ लापरवाही थी।

“आ-हा फिर आप!—कहिये।”



“आप को नौकर की जस्ती थी न?—देखिए, यह लड़का है।”

“कहाँ से ले आये?—इसे आप जानते हैं?”

“जानता हूँ—यह बेर्इमान नहीं हो सकता।”

“अजी, ये पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं। बच्चे-बच्चे में गुन छिपे रहते हैं। आप भी क्या अजीब हैं—उठा लाये कहीं से—लो जी, यह नौकर लो।”

“मानिए तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा।”

“आप भी....जी, बस खूब हैं। ऐरे-गैरे को नौकर बना लिया जाय और अगले दिन वह न जाने क्या-क्या लेकर चम्पत हो जाये।”

“आप मानते ही नहीं, मैं क्या करूँ?”

“मानें क्या, खाक?—आप भी...जी अच्छा मजाक करते हैं।... अच्छा अब हम सोने जाते हैं।”

और वह चार रुपये रोज के किरायेवाले कमरे में सजी मसहरी पर सोने झटपट चले गये।

4

वकील साहब के चले जाने पर, होटल के बाहर आकर मित्र ने अपनी जेब में हाथ डालकर कुछ टटोला। पर झट कुछ निराश भाव से हाथ बाहरकर मेरी ओर देखने लगे।

“क्या है?”

“इसे खाने के लिए कुछ—देना चाहता था,” अंग्रेजी में मित्र ने कहा—“मगर, दस-दस के नोट हैं।”

“नोट ही शायद मेरे पास हैं, देखूँ?”;

सचमुच मेरे पाकिट में भी नोट ही थे। हम फिर अंग्रेजी में बोलने लगे। लड़के के दाँत बीच-बीच में कटकटा उठते थे। कड़ाके की सर्दी थी।

मित्र ने पूछा—“तब?”

मैंने कहा—“दस का नोट ही दे दो।” सकपकाकर मित्र मेरा मुँह देखने लगे—“अरे यार! बजट बिगड़ जायगा। हृदय में जितनी दया है, पास में उतने पैसे तो नहीं हैं।”

“तो जाने दो, यह दया ही इस जमाने में बहुत है।”—मैंने कहा।

मित्र चुप रहे। जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़के से बोले—“अब आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना। वह ‘होटल डी पब’ जानता है? वहीं कल दस बजे मिलेगा?”

“हाँ..., कुछ काम देंगे हुजूर?”

“हाँ-हाँ, ढूँढ़ दूँगा।”

“तो जाऊँ?”

“हाँ”, ठण्डी साँस खींचकर मित्र ने कहा—“कहाँ सोयेगा?”

“यहीं कहीं; बेंच पर, पेड़ के नीचे किसी दुकान की भट्टी में।”

बालक फिर उसी प्रेत-गति से एक ओर बढ़ा और कुहरे में मिल गया। हम भी होटल

की ओर बढ़े । हवा तीखी थी—हमारे कोटों को पारकर बदन में तीर-सी लगती थी ।

सिकुड़ते हुए मित्र ने कहा, “भयानक शीत है । उसके पास । कम—बहुत कम कपड़े...!”

“यह संसार है यार!”—मैंने स्वार्थ की फिलासफी सुनाई—“चलो, पहले बिस्तर में गर्म हो लो, फिर किसी और की चिन्ता करना ।”

उदास होकर मित्र ने कहा—“स्वार्थ!—जो कहो, लाचारी कहो, निटुराई कहो, या बेहयाई!”

X

X

X

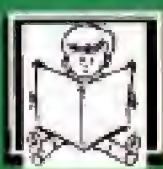
दूसरे दिन नैनीताल—स्वर्ग के किसी काले गुलाम पशु के दुलारे का वह बेटा—वह बालक, निश्चित समय पर हमारे ‘होटल डी पब’ में नहीं आया । हम अपनी नैनीताल-सैर खुशी-खुशी खत्म कर चलने को हुए । उस लड़के की आस लगाते बैठे रहने की जरूरत हमने न समझी ।

मोटर में सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला कि पिछली रात, एक पहाड़ी बालक सड़क के किनारे, पेड़ के नीचे, ठिठुरकर मर गया!

मरने के लिए उसे वही जगह, वही दस बरस की उम्र और वही काले चिथड़ों की कमीज मिली । आदमियों की दुनिया ने बस यही उपहार उसके पास छोड़ा था ।

पर बतानेवालों ने बताया कि गरीब के मुँह पर, छाती, मुट्ठी और पैरों पर बरफ की हल्की-सी चादर चिपक गई थी । मानो दुनिया की बेहयाई ढँकने के लिए प्रकृति ने शव के लिए सफेद और ठण्डे कफन का प्रबन्ध कर दिया था ।

सब सुना और सोचा—अपना अपना भाग्य!



अनुरागद्रस्ट

लखनऊ